कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥ ५१ ॥

चूँकि समबुद्धिसे युक्त पुरुष कर्मजनित फलका त्यागकर केवल परमेश्वरकी आराधनाके लिए कर्म करते हुए सत्त्वशुद्धिद्वारा आत्मज्ञानी हो जाते हैं और वैसा होते हुए वे जन्मात्मक बन्धनसे सदाके लिए छुटकारा पाकर अविद्या और तत्कार्यात्मक रोग रहित मोक्षनामक परमपदको—पुरुषार्थको प्राप्त हो जाते हैं, इसलिए तुम भी ऐसे कर्मयोगका अनुष्ठान करो ॥ ५१ ॥

ननु दुष्कृतहानमपेक्षितं न तु सुकृतहानं पुरुषार्थभ्रंशापत्तेरित्याशङ्क्य तुच्छफलत्यागेन परमपुरुषार्थप्राप्तिं फलमाह—'कर्मजम्' इति ।

समत्वबुद्धियुक्ता हि यस्मात्कर्मजं फलं त्यक्त्वा केवलमीश्वराराधनार्थं कर्माणि कुर्वाणाः सत्त्वशुद्धिद्वारेण मनीषिणस्तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्यात्ममनीषावन्तो भवन्ति । तादृशाश्च सन्तो जन्मात्मकेन बन्धेन विनिर्मुक्ता विशेषेणाऽऽत्यन्तिकत्वलक्षणेन निरवशेषं मुक्ताः पदं पदनीयमात्मतत्त्वमानन्दरूपं ब्रह्मानामयमविद्यातत्कार्यात्मकरोगरहितमभयं मोक्षाख्यं पुरुषार्थं

शङ्का—दुष्कृतका त्याग तो उचित है, क्योंकि इसका फल दुःखानुभव है, जो प्राणिमात्रको इष्ट नहीं है, परन्तु सुकृतका हान तो अच्छा नहीं है। इसका फल सुखानुभव है, जो सब प्राणियोंको इष्ट है। इसके त्यागसे तो पुरुषार्थ ही से गिर जाना होगा।

समाधान—सांसारिक फल तुच्छ हैं। इनका त्याग कर परमपुरुषार्थरूप अतुच्छ फल प्राप्त करो, यह कहते हैं—'कर्मजम्' इत्यादिसे। समत्वबुद्धियुक्त पुरुष कर्मज फलका त्यागकर केवल ईश्वराराधनार्थ कर्म करते हैं और सत्त्वशुद्धि द्वारा विद्वान् होते हैं। यहाँ विद्वान्से 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यजन्य जो ब्रह्मात्मैकत्व-ज्ञान है तद्वान् विवक्षित है। विद्वान् होकर जन्मस्वरूप बन्धसे बिलकुल छूट जाते हैं। विनिर्मुक्ताः' यहाँ 'वि और निर्' इन दोनों उपसर्गोंसे विवक्षित अर्थको स्फुट करते हैं—आत्यन्तिकत्वरूप विशेष 'वि' का और निरवशेषत्वरूप अर्थ 'नि' का यहाँ विवक्षित है। आत्यन्तिक बन्धसे मुक्त हो जाते हैं। मुक्त होकर पदम्—पदनीय—गमनीयको—आत्मतत्त्वपरमानन्दरूप ब्रह्मको प्राप्त हो जाते हैं, जो अनामय है। अर्थात् आमय रोगका नाम

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥ ५२॥

जब तुम्हारी बुद्धि अविवेकात्मक कालुष्य पार कर जायगी तब तुम श्रोतव्य और श्रुत कर्मफलमें निर्वेदको प्राप्त होओगे—तब तुममें कर्मफलकी चाह न रहेगी ॥ ५२ ॥

गच्छन्त्यभेदेन प्राप्नुवन्तीत्यर्थः। यस्मादेवं फलकामनां त्यक्त्वा समत्वबुद्ध्या कर्माण्यनुतिष्ठन्तस्तैः कृतान्तःकरणशुद्धयस्तत्त्वमस्यादिप्रमाणोत्पन्नात्मतत्त्वज्ञानविनष्टाज्ञानतत्कार्याः सन्तः सकलानर्थनिवृत्तिपरमानन्दप्राप्तिरूपं मोक्षाख्यं विष्णोः परमं पदं गच्छन्ति तस्मात्त्वमपि यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे इत्युक्तेः श्रेयोजिज्ञासुरेवंविधं कर्मयोगमनुतिष्ठेति भगवतोऽभिप्रायः ॥ ५१ ॥

है, [रोग शरीरमें होता है, ब्रह्म अशरीर है, इसलिए उसमें रोग नहीं है, फिर भी निरामयसे उसका उसमें प्रतिषेध व्यर्थ है, इस शङ्काके परिहारार्थ अनामयकी व्याख्या करते हैं—रोग दुःखदायी होता है, जो जिसमें रह कर दुःख दे वही उसमें रोग है। शरीरमें ज्वरादि रहकर शरीरीको दुःख देते हैं, अतः जैसे ज्वरादि रोग हैं, एवं अविद्या और उसके कार्य परमात्मामें रहकर जीवोंके दुःखदायी हैं, अतः आत्मामें ये ही रोग हैं।] एतद्रोगरहित अभय मोक्षनामक पुरुषार्थ वे प्राप्त करते हैं। अभेदरूपसे प्राप्त करते हैं, यह अर्थ है। [जैसे नगरगन्ता के गन्तव्य नगरको प्राप्त करनेपर भी दोनोंका भेदेन अवस्थान रहता है। गन्ता पुरुष नगर नहीं हो जाता, वैसे ही यहां भेदेन अवस्थान नहीं है, किन्तु गन्ता और गन्तव्य ब्रह्मस्वरूप हो जाता है, इस तात्पर्यसे 'अभेदेन प्राप्नुवन्ति' यह कहा।] चूँकि इस प्रकार फलकी कामनाका त्याग कर समत्वबुद्धिसे कर्मोंको कर उन कृत कर्मोंसे परिशुद्धान्तःकरण होते हुए यानी 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यप्रमाणोत्पन्न जो 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारक आत्मतत्त्वज्ञान है, इससे अविद्या और तत्कार्य समस्त प्रपञ्चका नाश करते हुए वे सकलानर्थनिवृत्तिरूप-परमानन्दप्राप्तिरूप मोक्षापरनामक विष्णुके परम पदको जाते हैं, इसलिये तुम भी 'यच्छ्रेयः स्यात्' इत्यादि वाक्यसे ज्ञात होता है कि श्रेयोर्थजिज्ञासु हो, तो ऐसा ही कर्मयोग करो, यह भगवान्का अभिप्राय है ॥ ५१ ॥

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥ ५३ ॥

अनेकविध फल वर्णन करनेवाली श्रुतियोंसे विक्षिप्त हुई तुम्हारी बुद्धि जब निश्चल होकर परमात्मामें दृढ़ हो जायगी तब तुम जीवपरमात्मैक्यरूपी अखण्डसाक्षात्कारको, जो समस्त योगोंका फल है, प्राप्त करोगे ॥ ५३ ॥

एवं कर्माण्यनुतिष्ठतः कदा मे सत्त्वशुद्धिः स्यादित्यत आह—'यदा ते' इति । नह्येतावता कालेन सत्त्वशुद्धिर्भवतीति कालनियमोऽस्ति । किन्तु यदा यस्मिन्काले ते तव बुद्धिरन्तःकरणं मोहकलिलं व्यतिक्रमिष्यति अविवेकात्मकं कालुष्यमहमिदं ममेदमित्याद्यज्ञानविलसितमतिगहनं व्यतिक्रमिष्यति रजस्तमोमलमपहाय शुद्धभावमापत्स्यत इति यावत् । तदा तस्मिन्काले श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च कर्मफलस्य निर्वेदं वैतृष्ण्यं गन्तासि प्राप्तासि । "परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायात्" इति श्रुतेः । निर्वेदेन फलेनान्तःकरणशुद्धिं ज्ञास्यसीत्यभिप्रायः ॥ ५२ ॥

अन्तःकरणशुद्ध्यैवं जातनिर्वेदस्य कदा ज्ञानप्राप्तिरित्यपेक्षायामाह—

इस तरह कर्म करनेसे मेरा मन कब शुद्ध होगा, इसपर कहते हैं—'यदा' इत्यादिसे । इतने समयमें उक्त कर्मोंसे मनकी शुद्धि होती है, यह कालनियम नहीं है, किन्तु अवधि यही समझो कि जिस समय तुम्हारा मन अविवेकस्वरूप कालुष्य 'मैं यह हूँ' 'यह मेरा है' इत्यादि जो अज्ञानका कार्य अति जटिल है, उसको पार कर जायगा यानी रज और तमके मलको छोड़कर शुद्धस्वभावापन्न हो जायगा तब समझना कि मेरा मन परिशुद्ध हो गया । उस समय श्रोतव्य—श्रवणयोग्य और श्रुत कर्मफलकी तृष्णा निवृत्त हो जायगी । वैतृष्ण्य प्राप्त करोगे, यह शब्दार्थ हुआ । इसमें प्रमाण 'परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान्' इत्यादि श्रुति है । निर्वेदरूप फलसे यानी फलवैतृष्ण्यसे अन्तःकरणकी शुद्धि जानोगे, यही शुद्धिका ज्ञापक है । श्रोतव्य और श्रुत दोनों निष्फल प्रतीत होगा, यह अभिप्राय है ॥ ५२ ॥

अन्तःकरणकी शुद्धिसे इस प्रकारका वैराग्य होनेपर कब ज्ञानकी प्राप्ति होगी,

'श्रुतिविप्रति०' इति ।

ते तव बुद्धिः श्रुतिभिर्नानाविधफलश्रवणैरविचारिततात्पर्यैर्विप्रतिपन्नाः

ऐसी जिज्ञासा होनेपर कहते हैं—'श्रुति०' इत्यादिसे ।

तुम्हारी बुद्धि जब परमात्मामें निश्चल होकर स्थित होगी तब तत्त्वज्ञान होगा, यही अवधिका ज्ञापक है। इस समय तो श्रुतियोंसे—अनेकविध फलश्रवणसे किन श्रुतियोंका क्या तात्पर्य है, इस विचारके बिना उक्त श्रुतियोंसे—विप्रतिपन्न है। [विप्रतिपत्तिसे संशय यानी विरुद्धकोटिद्वयावगाहिज्ञान होता है। जैसे सामने स्थित मनुष्यदेहसममें मन्द अन्धकारमें 'स्थाणुर्न वा' यह संशय होता है, इससे स्थाणुत्वकोटि और एतद्विरुद्ध स्थाणुत्वाभावकोटि, दोनोंका भान होता है। विरुद्ध धर्मरूप एक धर्मीमें नहीं रहता, पर एकतरकोटिका निर्णायक जबतक कोई ज्ञान नहीं होता, तबतक यह संशय बना रहता है। यदि स्थाणुत्वव्याप्य शाखापत्रादिका ज्ञान हो जाय, तो यह स्थाणु है, यह निश्चय हो जायगा, फिर उक्त संशय भी निवृत्त हो जायगा। संशयज्ञान अप्रमाण है। एवं विपर्यास विभ्रमको कहते हैं। जैसे कि शुक्तिमें रजतज्ञान और रज्जुमें सर्पज्ञान—ये भ्रम ही हैं, अतद्वति तत्प्रकारक ज्ञान भ्रम है। शुक्तिमें रजतत्व नहीं है, फिर भी 'इदं रजतम्' यह ज्ञान शुक्तिमें रजतको बतलाता है, अतः यह भ्रम है। इसकी निवृत्ति वास्तविक शुक्तिज्ञानसे होती है। ऐसी तुम्हारी बुद्धि संशयात्मक है, क्योंकि इस ज्ञानकी सामग्री तुम्हारे मनमें है। श्रुति द्वारा अनेकफलश्रवणसे संशय होना उचित ही है। 'अपाम सोमं अमृता अभूम' इसके श्रवणसे यह ज्ञान होता ही है। सोमपान सोमयागमें होता है, इसलिये सोमपानसे सोमयाग विवक्षित है। सोमयागादिसे भी आत्यन्तिक—निश्शेष बन्धकी निवृत्ति होती है। बन्धनिवृत्ति होनेपर ही अमृतप्राप्ति होती है। उक्त श्रुतिसे यह अर्थ स्फुट प्रतीत होता है कि सोम पिया कि मुक्त हो गये। 'तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते एवं कर्मचितो लोकः क्षीयते' यथा कर्मजन्य सस्यादि क्षयी है, एवं कर्मजन्य स्वर्ग भी क्षयी है। क्षयित्वमें कारण कर्मजन्यत्वादि है। इस विरुद्ध श्रुतिद्वयके श्रवणसे मोक्षके लिये कर्मका आश्रयण करना चाहिये अथवा नहीं, यह संशय तबतक बना रहेगा, जबतक कि तात्पर्यनिर्णयानन्तर यथार्थ ज्ञान नहीं होगा। तात्पर्यनिर्णय विचारके बिना नहीं होता, इसलिये 'अविचारित' यह कहा। 'नान्यः

नेकविधसंशयविपर्यासवत्त्वेन विक्षिप्ता प्राक्, यदा यस्मिन्काले शुद्धिजविवेकजनितेन दोषदर्शनेन तं विक्षेपं परित्यज्य समाधौ परमात्मनि निश्चला जाग्रत्स्वप्नदर्शनलक्षणविक्षेपरहिताऽचला सुषुप्तिमूर्छास्तब्धीभावादिरूपलयलक्षण-

पन्था विद्यतेऽयनाय' इत्यादि श्रुत्यन्तरसे तथा कर्मजत्वादि लिङ्गसे यागादिजन्य फलमें विनाशित्वका ज्ञान होता है, यह कर्मस्तावक वाक्य है. इसका फलकी नित्यतामें तात्पर्य नहीं है, मुख्य तात्पर्य यागादि कर्मकी स्तुतिमें है। अमृत' पद तदनुसार अविनाशिपरक नहीं है, किन्तु चिरस्थायिपरक है, अतएव 'आभूत संप्लवस्थानममृतत्वं हि भाषते' इत्यादि स्मृतिवचन संगत होता है। इस तरह विपर्ययमें भी समझना चाहिये।] अर्थात् उक्त रीतिसे अनेकविध संशयविपर्ययसे पहिले बुद्धि विक्षिप्त है [क्षिप्त, विक्षिप्त, मूढ, एकाग्र और निरुद्ध—ये पांच चित्तकी भूमियाँ हैं। एकाग्र और निरुद्ध ये दोनों तत्त्वज्ञानोपयोगी हैं। शेष तीन भूमियां अयोग्य हैं। इनको शुद्ध करनेपर तत्त्वज्ञान हो सकता है। क्षिप्त, विक्षिप्त और मूढमें उत्तरोत्तर निकृष्ट हैं। प्रकृतमें अर्जुनकी बुद्धि विक्षिप्त कही गई है। अज्ञानमें दो शक्ति वेदान्ती मानते हैं– आवरण और विक्षेप। आवरणशक्तिसे वस्तुतत्त्वका आवरण होता है और विक्षेपशक्तिसे उसमें रूपान्तरका भान होता है। इसीसे संशय-विपर्यय होता है। अभी अर्जुनकी बुद्धिमें अज्ञानकार्य होनेसे तद्गत विक्षेपशक्ति विद्यमान है। इसलिये आत्मोपदेश करनेपर भी यथार्थ ज्ञान नहीं हुआ, अतः निष्काम कर्म द्वारा इस विक्षेपशक्तिरूप मनोदोषको निवृत्त करो। तदनन्तर तत्त्वज्ञानोत्पत्तियोग्यता मनमें होगी, यह अभिप्राय भगवान्का है।

प्रश्न - विक्षेपशक्तिकी निवृत्तिका उपाय क्या है ?

उत्तर—निकामकर्मजन्यशुद्धिविशिष्टमनःपरिणामरूपविवेकज्ञान है।] जब कामनाप्रयुक्त कर्मानुष्ठानजन्य फलमें सातिशयत्वक्षयित्वदि दोषदर्शनसे उस विक्षेपका त्याग-कर समाधिमें यानी परमात्मामें वह निश्चल होगी यानी जाग्रत्स्वप्नदर्शनरूप विक्षेपसे रहित दृढ होगी—सुषुप्तिमूर्च्छास्तब्धीभावादिरूप लयलक्षण चलनसे रहित होकर स्थिर होगी। [प्रकृतमें जाग्रत्स्वप्नप्रदर्शनलक्षण विक्षेप विक्षेपसे विवक्षित है। इन दोनों दोषोंसे बुद्धि चञ्चल होती है। इनकी निवृत्तिसे बुद्धिमें स्थिरता होती है। जागर कालमें अनेक विषयोंके दर्शन, श्रवण आदिसे बुद्धि एक विषयमें स्थिर नहीं रह सकती, एवं स्वप्नावस्थामें भी

चलनरहिता सती स्थास्यति, लयविक्षेपलक्षणौ दोषौ परित्यज्य समाहिता भविष्यतीति यावत्। अथवा निश्चलाऽसंभावनाविपरीतभावनारहिताऽचला दीर्घकालादरनैरन्तर्यसत्कारसेवनैर्विजातीयप्रत्ययादूषिता सती निवातप्रदीपवदात्मनि स्थास्यतीति योजना। तदा तस्मिन्काले योगं जीवपरमात्मैक्यल-

विविध स्वाप्निक पदार्थोंका ज्ञान होता है। संस्कारात्मक विक्षेप बुद्धिमें है ही। सुषुप्ति-मूर्च्छा-स्तब्धीभावादिदशामें बुद्धि ही नहीं रहती। बुद्धि अन्तःकरणका परिणाम है। उस समय अन्तःकरण स्वकारणमें लीन हो जाता है, इसकारण वृत्ति ही नहीं हो सकती, स्थिर वृत्तिकी क्या संभावना! ये लयलक्षण विक्षेप कहलाते हैं। इन दोनों प्रकारके विक्षेपोंसे रहित जब बुद्धि होती है तब वह स्थिर-निश्चल होती है।] लय-विक्षेपलक्षण दोषोंका परित्याग कर बुद्धि समाहित होगी, यह तात्पर्य है। [अथवासे अर्थान्तर कहते हैं--] अथवा जब असंभावना और विपरीत भावना, इनसे अर्थात् जीव और ब्रह्मका अभेद नहीं हो सकता, यह असंभावना है तथा ब्रह्म जीवसे अत्यन्त भिन्न है, यह विपरीत भावना है, इन दोनों भावनाओंसे रहित अतएव अचल यानी दीर्घकालादरनैरन्तर्यसत्कारसेवनद्वारा विजातीय प्रत्ययसे अदूषित होती हुई वातरहित प्रदीपके समान आत्मामें स्थिर रहेगी, यह योजना है। [भाव यह है कि अचलबुद्धि वह कही जाती है, जो एक विषयमें चिरकालतक स्थिर रहे। जैसे घटविषयक बुद्धि हुई, वह दश-पन्द्रह मिनटतक घटविषयक ही रहे, मध्यमें विषयान्तर का भान न हो। इसीको योगशास्त्रमें प्रत्ययैकतानता कहते हैं यानी विजातीय वृत्तिविषयनिरासपूर्वक गृहीतविषयकी निरन्तर चित्तवृत्तिका समुत्पाद कहते हैं। यह तो सर्वानुभवसिद्ध है कि किसी विषयकी वृत्ति होती है, तो तुरत विषयान्तरकी वृत्ति चित्तमें हो जाती है। वह वृत्ति भिन्नविषयक होनेसे विजातीय कही जाती है। अभिन्नविषयकत्वेन साजात्य है और भिन्नविषयकत्वेन वैजात्य है। यदि एक ही विषयमें वृत्ति निवातप्रदीपशिखावत् स्थिर रहे, विषयान्तरमें न जाय, तो वह वृत्ति स्थिर कही जाती है। ईश्वरध्यानके समय ईश्वरविषयक वृत्ति ही होती रहे, विषयान्तरकी वृत्ति न हो। एक ही वृत्ति अनेकक्षण नहीं रह सकती। दीपशिखावत् पूर्वपूर्वनिवृत्तिपूर्वक उत्तरोत्तरोत्पाद आवश्यक है। इसलिए गृहीत विषयकी वृत्तियां चित्तमें निरन्तर उत्पन्न हों, विषयान्तरकी न हों, तो वह वृत्ति स्वरूपतः स्थिर नहीं है। स्वरूप तो बदलता ही जाता है, किन्तु विषयतः स्थिर है अर्थात् उन वृत्तियोंमें विषय स्थिर है। स्थिरविषयकत्वेन वृत्ति भी स्थिर कही जाती

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥५४॥

अर्जुनने कहा--हे केशव, समाधिमें स्थित स्थितप्रज्ञ पुरुषका क्या लक्षण है। स्थितप्रज्ञ कैसे भाषण करेगा, कैसे अवस्थित रहेगा और कैसे वह गमन करेगा ॥ ५४ ॥

क्षणं तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्यमखण्डसाक्षात्कारं सर्वयोगफलमवाप्स्यसि। तदा पुनः साध्यान्तराभावात्कृतकृत्यः स्थितप्रज्ञो भविष्यसीत्यभिप्रायः ॥५३॥

एवं लब्धावसरः स्थितप्रज्ञलक्षणं ज्ञातुमर्जुन उवाच—यान्येव हि जीव-

---

है, इस तात्पर्यसे 'निर्वातप्रदीपवत् आत्मनि स्थास्यति' यह लिखा है।] उस समय जब आत्मामें स्थिर वृत्ति होगी तब योग यानी जीवपरमात्मैक्यलक्षण तत्त्वमसि आदि वाक्यजन्य अखण्डसाक्षात्कार जो सब योग का फल है, वह पावोगे। [अखण्डसे जीव-ब्रह्म का जो अभेदसबन्ध है उसका भी भान न हो, क्योंकि संसर्गानवगाही बोध विवक्षित है। संसर्गका भान होनेपर विशेषणविशेष्यभावका भी भान दुर्निवार है। विशेषण आदिका भान होनेपर अद्वैतब्रह्मसाक्षात्कार न होगा, यही मोक्षका अज्ञाननिवर्त्तनद्वारा अभिव्यञ्जक है। इसलिये 'ऐक्यलक्षण' कहा। दोनोंका एक ही रूप वस्तुतः है, अज्ञानसे भिन्नरूप प्रतीत होते हैं। अज्ञाननिवृत्त्युत्तर ऐक्य प्रतीत होना ठीक है।] उस समय कुछ कर्तव्यान्तर अवशिष्ट नहीं रहता, इसलिए कृतकृत्य—कृतं कृत्यं येन स— जो सब अपने कर्तव्योंको कर चुका है वह कृतकृत्य कहा जाता है, वही स्थितप्रज्ञ होता है। स्थिता प्रज्ञा यस्य स—जिसकी बुद्धि स्थिर है, जिसका स्वरूप कह चुके हैं, सो स्थितप्रज्ञ है। उक्त बुद्धि होनेपर उस समय पुनः साधनान्तर न होनेसे तुम भी कृत्यकृत्य तथा स्थितप्रज्ञ हो जावोगे, यह अभिप्राय है [श्रुतिविप्रतिपन्नसे श्रवणज्ञान, उसके अनन्तर तदुपासन, जिसको ज्ञाननिष्ठा भी कहते हैं। अचला बुद्धि यही है, ध्यानमें ही बुद्धि अचल होती है, तदनन्तर आत्मसाक्षात्कार और ततः मोक्ष यानी ब्रह्मतमना अवस्थान होता है] ॥ ५३ ॥

इस प्रसङ्गसे अवसर पाकर अर्जुन स्थितप्रज्ञका लक्षण पूछते हैं—**'स्थित-**